ISSN: 2456-947X, Vol. I, Issue. I, June-2017

अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

भारतेंदु युग की ख़ताएं और सज़ा भुगतती सदियां

डॉ. प्रमोद कुमार तिवारी
गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय
सेक्टर-29, गांधीनगर
गुजरात-382030
ईमेल-pramodktiwari@gmail.com

शोध सार - भारत-पाकिस्तान के विभाजन में बड़ी भूमिका निभानेवाला हिन्दी-उर्दू विवाद वास्तव में भाषा का विवाद नहीं था बल्कि सत्ता और रोजगार में बड़ी हिस्सेदारी के लिए वर्चस्व की लड़ाई थी जिसे भाषा के नाम पर लड़ा जा रहा था। 1857 के विद्रोह के बाद, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम कंधे से कंधा मिलाकर लड़े थे, अंग्रेज भारतीय साझेपन को तोड़ने के लिए कोई कारण ढूंढ रहे थे। जब कोई कारण नहीं मिला तो उन्होंने एक कारण पैदा करने की साजिश रची। आश्चर्यजनक ढंग से उस समय के भारतीय साहित्यकार इस साजिश को समझ नहीं पाए और आपस में लड़ने लगे। गौरतलब है कि ये साहित्यकार सांप्रदायिक नहीं थे परंतु इनके संघर्ष का सांप्रदायिक इस्तेमाल करने में अंग्रेज सफल रहे। यह कहना कठिन है कि (तथाकथित हिन्दी-उर्दू के) साहित्यकारों की इस लड़ाई के मूल में उनके स्वार्थ और ठसक की अधिक भूमिका थी या नासमझी की परंतु इतना निश्चित है कि ये साहित्यकार अदूरदर्शी थे और देशभक्त होने के बावजूद लगभग अंग्रेजों की कठपुतली की तरह काम कर रहे थे। जिस हिन्दी की शुरुआत से अमीर खुसरो, मुल्ला दाउद, जायसी, वली दक्कनी, रसख़ान, रहीम आदि से लेकर नज़ीर अकबराबादी, मीर, मिर्ज़ा ग़ालिब जैसे लोग जुड़े रहे थे और जिसके लिए उर्दू शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ था वह अचानक हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, रेख्ता जैसे नामों को छोड़ कर उर्दू हो गयी और दूसरी ओर इन सब की कर्जदार हिन्दुस्तानी को आर्यभाषा का नाम देकर एक खाई निर्मित की गयी। इस खाई को बनाने में हमारे स्वनामधन्य साहित्यकारों ने भी भूमिका निभायी और तात्कालिक घटनाओं के दबाव में वे बड़े दिल का परिचय नहीं दे सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय की गलतियों का भुगतान हिन्दी-उर्दू साहित्य को करना पड़ा और उसका परिणाम आज भी एक बड़ा समाज भुगत रहा है।

मूल शब्द- भारतेंदु युग, नवजागरण, पुनर्जागरण, आधुनिक काल, सर सैयद अहमद खान, उन्नीसवीं सदी, हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, आर्य भाषा, 1857 का विद्रोह।

I. प्रस्तावना

भाषाएं केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हैं बल्कि इनका घनिष्ठ संबंध इतिहास, परंपरा, रोजगार, अस्मिता और आर्थिक कार्यकलापों से जुड़ता है। अनायास नहीं है कि भारत में राज्यों का निर्माण भाषा के आधार पर हुआ है और जिस एक धर्म, एक भाषा, एक देश की गलत समझ के आधार पर एक अलग देश पाकिस्तान बना था वह स्वयं भाषा के ही कारण दो भागों में विभाजित हो गया। भारत-पाक

विभाजन में बड़ी भूमिका निभानेवाला हिन्दी-उर्दू विवाद वास्तव में एक नकली विवाद था क्योंकि वहां दो भाषाएं थी ही नहीं बस दो लिपियां थीं। (क्रिस्टोफर रोलैंड किंग, 1994) यह पूरी दुनिया के लिए मजेदार विषय हो सकता है कि जो वास्तव में मुद्दा नहीं है उसे कैसे सच की तरह लोगों के दिलो-दिमाग में बैठाया जाय। हिन्दी का भारतेंदु काल (1850-1900) जिसे कि हिन्दी नवजागरण, पुनर्जागरण और आधुनिक काल आदि विशेषणों से नवाजा जाता है, निश्चित रूप से भारतीय प्रायद्वीप का अत्यंत महत्वपूर्ण काल था जिसने सैकड़ों वर्षों के लिए इस प्रायद्वीप का भविष्य निर्धारित कर दिया। परंतु तथ्य यह भी बताते हैं कि यह युग अदूरदर्शी, आत्मकेंद्रित और समुदायकेंद्रित लोगों का काल था। इस दौरान भारत में एक भी ऐसा व्यक्ति उभर कर सामने नहीं आता जो अपने समूह के और खुद के निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर एक विशाल देश के मद्देनजर निर्णय लेता और समुदाय हित के बजाय देश हित की बात करता। इस पूरी प्रक्रिया में हिन्दी साहित्यकारों की बड़ी भूमिका थी इसलिए इनसे जुड़ी अपनी आस्थाओं को किनारे रखकर इनका निर्मम मूल्यांकन करना जरूरी है।

II. मूल लेख

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध निश्चित रूप से संक्रांति का काल था। भारत में मध्यवर्ग का उदय हो रहा था, भारत, सामंती व्यवस्था से पूंजीवादी और औद्योगिक व्यवस्था में कदम रख रहा था; रेल, डाक, तार आदि की नयी तकनीक से जुड़ रहा था और पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियों से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। धर्म और समुदाय केंद्रित तमाम समाज (ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि) इस समय की उपज थे और भारतीय समाज को एक नयी दिशा देने के लिए परिश्रम कर रहे थे परंतु ये सारे के सारे समाज संकुचित दृष्टि को लेकर चल रहे थे। उस समय सबसे ज्यादा जरूरत इस बात की थी कि अंग्रेजों की साजिश को समझकर भारत की अखंडता और एकजुटता को बचाया जाय। घनघोर धर्मनिष्ठ भारत की सबसे बड़ी विशेषता इसकी धर्मनिरपेक्षता थी जिसकी बदौलत हजारों वर्षों से तमाम धर्मों और संप्रदायों के लोग यहाँ रहते आए थे। तमाम विविधताओं के बावजूद वह सूत्र जो देश को बांधे हुए था अंग्रेजों ने उस पर आघात किया। उन्हें हिन्दू और मुसलमान के रूप में इस सूत्र के दो छोर मिल गए और उन्होंने इसे अलग करने के लिए दांव-पेंच लगाने शुरू कर दिए। 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना इस विभाजन की दृष्टि से पहला कदम था। यही वह नींव थी जिसपर बड़े ही सुनियोजित और सुचिंतित तरीके से आगे चलकर एक महल खड़ा होता है जिसकी अंतिम परिणति 1947 को देश विभाजन के रूप में होती है।

अमीर खुसरो नामक मुस्लिम साहित्यकार से शुरू मानी जाने वाली हिन्दी जिसे जायसी, मुल्ला दाउद, रसख़ान, रहीम आदि से लेकर नज़ीर अकबराबादी, मिर्ज़ा ग़ालिब और बहादुर शाह ज़फ़र जैसे अनेक रचनाकारों ने अपने खून से सींचा था और 1850 ई॰ तक जिस भाषा को भारत की प्रतिनिधि भाषा होने का गौरव प्राप्त था, अचानक वह दो भागों में बँटने लगी। हिन्दवी, हिन्दुई, रेख्ता, हिन्दुस्तानी जैसे अनेक विशेषणों के साथ चलने वाली यह भाषा, जिसे महान शायर मिर्ज़ा ग़ालिब 1860 तक के अपने पत्र में भी 'हिन्दी' नाम से सूचित करते हैं, अचानक ही हिन्दी और उर्दू दो नामों से पहचानी जाने लगती है। इस बात में भी कोई ख़ास बुराई नहीं थी परन्तु जल्दी ही इन दोनों का संबंध दो जातियों और दो धर्मों से जोड़ दिया जाता है। दुःखद तो यह है कि धर्म के साथ भाषा का यह गठबंधन आगे चलकर देश के विभाजन में निर्णायक भूमिका निभाता है और लाखों लोगों की बलि लेता है। अमेरिकी समाजशास्त्री पॉल आर ब्रॉस ने इस बात को रेखांकित करते हुए लिखा भी है कि "उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में और बीसवीं सदी के शुरू में हिन्दुस्तान के लोगों ने- हिन्दुओं, मुसलमानों और अंग्रेज़ों ने- जिन रास्तों का चुनाव किया, वे आख़िरकार उन्हें हिन्दुस्तान के बँटवारे तक ले गये।"[1]

अचरजकारी बात यह नहीं है कि बाहर से आए अंग्रेज़ों ने इस विभेद को बढ़ावा दिया। यह सही है कि धनलोलुप और सत्ताभिलाषी अंग्रेज़ भारत की सामाजिक और सौहार्दपूर्ण तत्त्वों की अनदेखी कर यहाँ के विभाजक तत्त्वों को बढ़ावा दे रहे थे पर यह कोई बड़ी बात नहीं थी। एक ग़ैर मुल्की शासक से इस तरह के कामों की अपेक्षा की जा सकती है परन्तु दुःखद तो यह है कि हमारे भारत के वे हिन्दू और मुस्लिम नेता, लेखक और पत्रकार जिनके कंधों पर भारत की एकता और सांस्कृतिक विरासत को अखंडित रखने की ज़िम्मेदारी थी, वे न केवल मुट्ठी भर अंग्रेज़ों के सुर में सुर मिला रहे थे बल्कि अपने लेखों और पत्रों के माध्यम से इस खाई को और गहरा बना रहे थे और लाखों भारतीय लोगों के दिमाग में अनचाहे ही सांप्रदायिकता का जहर भर रहे थे। उस समय के लेखक और पत्रकार, नेता और विचारक की भी भूमिका निभा रहे थे। यह बात हम सर सैयद, भारतेंदु हरिश्चंद्र और शिव प्रसाद सितारेहिंद आदि की भूमिका से बखूबी समझ सकते हैं।

प्रभावशाली नेताओं और हिन्दू-मुस्लिम सुधार आंदोलनों ने भारत की साझी विरासत और यहाँ की राष्ट्रीयता को मजबूत बनाने वाले तत्त्वों की अनदेखी कर अलगाव दिखाने वाली बातों पर ज़ोर दिया। ऐसा यूं ही नहीं हो गया कि भारतीय समाज अचानक ऐसा व्यवहार करने लगा जो भारतीय लोगों के लिए इतना विध्वंसक और अंग्रेज़ों के लिए इतना मददगार साबित हुआ। इसके पीछे नकारात्मक सोच वालों का एक पूरा समूह था और इस समूह के सफल होने का एक बड़ा कारण यह था कि उस दौर में भारतीय समाज में कोई इतना बड़ा व्यक्तित्व नहीं उभर सका जो इन विभाजनकारी शक्तियों को

परास्त कर बाद में आनेवाले महात्मा गांधी की तरह सामासिक भाषा और साझी संस्कृति की रक्षा करने का प्रयत्न करता।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के माध्यम से अंग्रेज़ों ने जिस भाषा विभाजन के बीज को बोया था उसे परखने में हमारे उस दौर के साहित्यकार असफल रहे। तब गिलक्रिस्ट ने उस समय के वायसराय लॉर्ड वेलेस्ली के आदेश से हिन्दी और उर्दू के लेखकों द्वारा अलग-अलग पुस्तकें लिखवाईं। उर्दू के लिए उन्होंने मीर अम्मन, सैयद हैदर बम्स हैदरी, मीर शेर अली अफ़सोस, मिर्ज़ा कासिम अली जवान और मीर अली हुसैनी आदि लेखकों को इक्कट्ठा किया तो हिन्दी के लिए लाला लल्लू लाल, सदासुख लाल, सदल मिश्र जैसे लोग शामिल हुए। मज़ेदार बात तो यह है कि हिन्दी के प्रमुख लेखक सदासुख लाल और इंशा अल्ला ख़ां और लल्लू लाल उर्दू के ज्ञाता होने के बावजूद इस बात को नहीं पकड़ सके। धीरे-धीरे हिन्दी-उर्दू भाषा विवाद लोगों की धार्मिक अस्मिता से जुड़ने लगा और लोग इसे लेकर आक्रामक रुख़ अपनाने लगे। भारतेंदु के दौर की शैशवकालीन हिन्दी पत्रकारिता जिसके ऊपर सामासिक संस्कृति और हिन्दी जाति को बचाने की एक बड़ी ज़िम्मेदारी थी, उसने भी प्रतीकों की राजनीति शुरू की और गोरक्षा जैसे फ़िजूल के मुद्दों को तूल देकर आग में घी डालने का काम किया। जिन आधारों पर दोनों भाषाओं का विरोध हो रहा था उसमें, भाषा विशेष के शासन अथवा सत्ता की भाषा न होने के कारण पिछड़ जाने की बात तो समझ में आती है और इसके कारण भाषा विशेष की निंदा की बात भी समझी जा सकती है परन्तु किसी भाषा को धर्म से जोड़ना, उसे और उसकी लिपि को सांस्कृतिक हमला बताना तथा अपनी भाषा के एक सबल पक्ष को रखकर दूसरी भाषा के निर्बल पक्ष की तुलना करते हुए उसका मज़ाक़ उड़ाना और उसे बेकार बताना आदि ऐसे तर्क थे जिनका खोखलापन तब भी उजागर था और ऐसा करनेवाले लोग भी इस बात से अच्छी तरह परिचित थे। यह वह समय था जब उर्दू का विद्वान भले हिन्दी न जानता रहा हो परंतु लगभग प्रत्येक हिन्दी विद्वान उर्दू भी जानता था और फ़ारसी लिपि से भी वाक़िफ़ था। भारतेंदु, प्रताप नारायण मिश्र आदि के उर्दू, फ़ारसी शेर इस बात के गवाह हैं। मुगल साम्राज्य को खत्म हुए कुछ ही दिन हुए थे और बड़े क्षेत्र में पढ़ने लिखने का मतलब ही फारसी लिपि जानना था।

ग़ौर करने वाली बात यह है कि जिस दौर में हिन्दी साहित्य नया रूप ले रहा था और नई-नई पत्रिकाएँ निकलने की शुरूआत होती है उसी दौर में भाषा का विभाजन और प्रतीकों की लड़ाई भी शुरू होती है। सवाल यहाँ केवल भाषा का नहीं था बल्कि सवाल सांस्कृतिक वर्चस्व और जातिगत श्रेष्ठता का था। अगर चाहते तो ये लेखक अपने अहं को किनारे रख कर राष्ट्र के नाम पर और राष्ट्रभाषा हिन्दी के नाम पर एक दूसरे का सम्मान कर सकते थे परंतु ये एक दूसरे को असभ्य, सांस्कृतिक दृष्टि से ज़ाहिल और ख़ुद को महान घोषित करने में लगे हुए थे। कड़वाहट इतनी बढ़ गई थी कि प्रताप नारायण मिश्र जैसे प्रतिष्ठित लेखक उर्दू को इत्र फुलेल लगाने वाली और अपने ग्राहकों को ठगने में माहिर वेश्या तक कहने में संकोच नहीं करते हैं।[2]

तो दूसरी ओर सर सैयद ख़ां जैसे मुस्लिम सुधारक हिन्दी को गँवार और फूहड़ कहकर हिन्दी भाषियों का मज़ाक़ उड़ा रहे थे। यह वही दौर था जब जायसी, रसखान और नानक जैसे लोगों का भूल से भी ज़िक्र नहीं होता था परन्तु ऐसी छोटी-छोटी बातें, जो साम्प्रदायिक तर्कों को पुष्ट करती थीं उन्हें खूब बढ़ावा मिलता था। यह दौर, धर्म से भाषा को जोड़कर व्यावहारिक जिंदगी में उसके सियासी इस्तेमाल का ग़ज़ब का नमूना प्रस्तुत करता है। दोनों भाषाओं के हमारे आदरणीय विद्वानों के इस तरह के व्यवहार पर कई समझदार अंग्रेज़ भी हैरानी जताते हैं। 1876 में अवध के शिक्षा विभाग के निदेशक जे॰सी॰ नेसफ़ील्ड लिखते हैं- ''मौलवियों और पंडितों के बीच शत्रुता अजीबोगरीब थी। उन दोनों ने ही अपनी भाषा के शब्दों को लेकर ज़िद-सी पकड़ ली जिसने निस्संदेह उर्दू और हिन्दी के बीच की दूरी को और बढ़ाने का काम किया। उन्होंने यह झूठा प्रचार करने की भी कोशिश की कि उर्दू व हिन्दी दो अलग-अलग ज़बानें हैं।''[3]

इस दौरान अफ़वाहों का बाज़ार भी खूब गर्म हुआ जो अंग्रेजों के लिए अत्यंत सहयोगी था और जिसे हवा देने में अंग्रेजों ने कोई कसर बाकी नहीं रखी। गोहत्या से संबंधित अनेक अफवाह पत्रिकाओं तक में छप रहे थे, 1881 की जनगणना के बाद यह बात फैलाने की कोशिश की गई कि हिन्दुओं की आबादी तेज़ी से घट रही है। नागरी लिपि के आंदोलन का दुःख भी भाषा से कहीं ज़्यादा हिन्दू उपेक्षा का था। कई-बड़े रचनाकार उस दौरान हिन्दी-उर्दू का संबंध ध्यान में रखते हुए नाटक और कविताएँ लिख रहे थे जैसे पंडित गौरी दत्त का 'नागरी और उर्दू का स्वांग', और 'किश्ती, कश्ती, नाटक', बाबू रत्नचन्द्र का 'हिन्दी उर्दू का नाटक' और राय सोहन प्रसाद की लम्बी कविता 'हिन्दी उर्दू की लड़ाई' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त भारतेंदु हरिश्चन्द्र की रचना 'उर्दू का स्यापा' और प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि के उर्दू विरोधी कविताओं से सभी परिचित हैं।

दूसरी और 'अलबशीर' और 'पंजाब ऑबज़र्वर' जैसे अख़बार देवनागरी के अक्षरों को बेढंगा, गवाँरू और मुस्लिम विरोधी सिद्ध कर रहे थे। कई सौ साल से सत्ता में रहने के कारण उर्दू पक्षधरों की बातों में सामंतवादी नज़रिया और एक तरह की हेकड़ी का भाव भी दिखता था। उर्दू राजदरबार की भाषा रही थी और उसमें शानदार शायर हो चुके थे तब मनोरंजन का सबसे बड़ा माध्यम शेरो शायरी थी इसलिए एक-एक शब्द को लेकर ये शायर जबरदस्त मेहनत किया करते थे। लंबे समय तक इस प्रक्रिया के चलने के कारण उर्दू में खास तरह का टकसालीपन आया और वह अलग तरह के अंदाजे-बयां से जुड़ी। उर्दू में क्रियाओं का शानदार इस्तेमाल कर लगभग मुहावरे का रूप दे दिया

गया। मिर्ज़ा ग़ालिब के 'न था कुछ तो खुद था, कुछ न होता तो खुदा होता, डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता' जैसे शेर इसी अंदाजे बयां के प्रमाण थे परंतु ये क्रियाएं अरब-फारस से नहीं आयी थीं बल्कि वे भारतीय मिट्टी की उपज थीं। लेकिन इस बात को नजरअंदाज किया गया। स्थितियां यहाँ तक बदतर हो गयीं कि उर्दू समर्थक सभाओं में जाने को मक्का जाने जैसा महत्त्वपूर्ण काम साबित किया जा रहा था। पंजाब ऑबजर्वर ने तो यह तक टिप्पणी की थी कि उर्दू के ख़तम होने से मुस्लिम बच्चों को सोच और भाषा के स्तर पर हिन्दू बना दिया जाएगा।[4]

हिन्दी के लेखक और पत्रकार हिन्दी आन्दोलन को हिन्दू धर्म से जोड़कर और इसे जातीय स्वाभिमान का प्रश्न बनाकर एक ऐतिहासिक ग़लती कर रहे थे। वहीं मुस्लिम रचनाकार अपने अतीत पर ज़ोर देकर और देश के बाहर की अपनी जड़ों की चर्चा कर इस खाई को और गहरा और चौड़ा बनाने में लगे हुए थे। भाषा को उर्दू नाम देने से भ्रम की गुंजाइश और बढ़ी जैसा कि शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी कहते भी हैं- '"हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक (1880-1890) के आते-आते बहुत कम होने लगा और जब उर्दू शब्द भाषा के नाम के तौर पर प्रचलित हो गया तो अंग्रेज़ों ने भी 'हिन्दुस्तानी' शब्द को त्याग दिया। इसमें इनका फ़ायदा भी था क्योंकि उर्दू शब्द में मुसलमानी रंग हिन्दुस्तानी शब्द से अधिक था और अंग्रेज़ यही चाहते थे कि उर्दू को मुसलमानों की भाषा के तौर पर जाना जाए।"[5]

इसके अलावा विसंगति यह रही कि मुसलमान इतिहासकारों ने उर्दू लेखकों की प्रामाणिक तालिका से हिन्दुओं को निकालना शुरू कर दिया। छोटे शायरों की कौन कहें दयाशंकर नसीम जैसे शायर के बारे में मोहम्मद हुसैन आज़ाद जैसे जहीन आदमी ने भी अपनी पुस्तक 'आबे-हयात' में उचित जगह नहीं दी। हो सकता है इसके पीछे उनकी कोई ग़लत मंशा न रही हो पर इस बात को लेकर बवाल करने वालों की तब भी कमी नहीं थी। शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी लिखते हैं कि उर्दू और फ़ारसी के कई प्रतिष्ठित हिन्दू शायरों को आज़ाद ने अपनी किताब से बाहर रखा। घनश्याम लाल आसी को भी उन्होंने हाशिए पर ठहराया। मौलाना हाली के मुकद्दमा शेरो शायरी में तमाम उर्दू शायरों के शेर जगह-जगह मिलते हैं। मगर हिन्दू शायरों के शेर नहीं मिलते। परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू शायर भी अपने कलाम ज़्यादातर हिन्दू उस्तादों को दिखाने लगे।

वरिष्ठ हिन्दू संत और समाज सुधारक दातादयाल महर्षि शिवव्रत लाल वर्मन (1860-1940) ने यह कहा कि धार्मिक आवश्यकताओं को हिन्दी भाषा ही पूरा कर सकती है।

भाषा के प्रश्न को अस्मिता का सवाल बनाने की सोची समझी साजिश इसी दौरान रची गई और इस कार्य में दोनों भाषाओं के विद्वानों ने समान भूमिका निभायी। जाति से 'ब्राह्मण' और इसी नाम से एक पत्र निकालने वाले उस समय के चर्चित कवि प्रताप नारायण मिश्र लिखते हैं-

"धर्म गयो धनबल गयो गई विद्या अरु मान
रही सही भाषा हती सोउ चाहति जान
शिक्षा कमीशन बैठ सुनी, हुलसत रहयों करेज
हरिहे दुःख हमार अब, बुद्धिमान अंग्रेज़
छोड़िहि उरदू राक्षसी अबते पिन्ड हमार
दिन हिन्दी के फिरहिंगे भयों जु उचित विचार
साचेहु अरबी अरब की फारसि फारस केर
अंग्रेज़ी इंग्लैंड की, या में हेर न फेर
आर्य देश की नागरी सब गुणकारी आए
यामें कुछ संदेह नहीं पै न सुनत कोउ हाय
उरदू सब अवगुण भरी वरण संकरी छूत
हमरे सिरते नहि हटी कमीशन की करतूत
नाम कियो निज सारथक, हन्टर सुभति उदार
हिन्दी हरणी को किए छल सो ताकि शिकार
उरदू जबनन की प्रिया, जो प्रचण्ड प्रत्यक्ष
ताहि निदरै कै कौन करि सकत सत्य को पक्ष
दुष्ट! उरदू!! पापिनी!!! करू स्वछन्द विहार
सब विधि सुविधा आज तोहि कोउ न रोकन हार।"[6]

प्रताप नारायण मिश्र अपने दौर के प्रतिनिधि के रूप में टिप्पणी करते हुए हिन्दी-उर्दू फ़र्क़ को ही नहीं बल्कि हिन्दू-मुसलमान के फ़र्क़ को भी बढ़ावा देते है-

"कि सन पिचासी में मुस्लिम करे हश्र बपा
गरीब हिन्दुओं की उससे जां बचाए हुसैन"[7]

इसी तरह की बातें उन्होंने अन्य कविताओं में भी लिखी है-

"विधवा विपत्ति में रोती है, गऊ प्राण दुःख से खोती है।
जनता हतप्रभ होती है, नहीं इसका कोई उपाय है
धन सब प्रकार से हमको दो, चरण प्रहार सहा करो
निज भाषा तक को भी बैठा खो, यह राजवंश का न्याय है।"[8]

इसी तर्ज पर पंडित राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं- "हमारी आर्य भाषा की आजकल कहीं पूछ नहीं। न सरकार के यहाँ न अच्छे प्रतिष्ठित धनवानों के यहाँ। जहाँ देखिए उर्दू की महिमा है पर क्या हुआ..... झूठ, झूठ है। सत्य सत्य है। कभी तो हमारी मातृभाषा का भाग्योदय होगा।"[9]

उस दौरान देशी रजवाड़ों की मुद्रा फ़ारसी अक्षरों में ढाली जाती थी। इस बात से दुःखी गोस्वामी जी लिखते हैं- "हम सब आर्य भाषा

के पत्र सम्पादकों से विनय करते हैं कि वे इस पत्र के आशय (कि देशी राजा अपने सिक्के नागरी लिपि में ढालें) को स्थान देकर राजा लोगों को सचेत करें।"[10]

इसी प्रकार वे रेल टिकटों को भी नागरी में लिखे जाने की वकालत करते हैं। यहाँ ध्यान रखने वाली बात यह है कि कहीं भी उर्दू और अंग्रेज़ी के साथ हिन्दी की वकालत नहीं होती है बल्कि देवनागरी को उर्दू लिपि के विरोधी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और आर्यों से आर्य भाषा की रक्षा की अपील की जाती है। कुल मिलाकर हमारे हिन्दी लेखक हिन्दी जाति को आर्य शब्द तक सीमित कर देते हैं और पूरे आंदोलन को आर्य भाषा, आर्य जाति, आर्य लिपि और आर्य संस्कृति के घेरे में बंद कर देते हैं।

'उर्दू का स्यापा' जो जून, 1874 के 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' में प्रकाशित हुई थी, उसमें भारतेंदु, बीबी उर्दू की मौत की ख़बर देने और व्यंग्यात्मक कटाक्ष करने के साथ-साथ फारसी लिपि में लिखी जानेवाली अरबी, फ़ारसी, पश्तो, पंजाबी आदि भाषाओं को छाती पीट-पीट कर स्यापा करते दिखाते हैं-

> "हाय-हाय उर्दू हाय-हाय, कहाँ सिधारी हाय-हाय।
> मेरी प्यारी हाय-हाय, मुंशी मुल्ला हाय-हाय।
> दाढ़ी नोचे हाय-हाय दुनिया उलटी हाय-हाय।
> रोजी बिलटी हाय-हाय, सब मुख़तारी हाय-हाय
> बात फ़रोसी हाय-हाय, वह लस्सानी हाय-हाय।"[11]

एक ज़माना था कि हिन्दी-उर्दू का धर्म से कोई लेना-देना न था। जायसी, मुल्ला दाउद, रसखान, रहीम, ताज, नज़ीर अकबराबादी जैसे मुसलमान पूरी तन्मयता के साथ राम-कृष्ण का गुणगान करते हैं और हिन्दी में कविताएँ लिखते हैं तो दूसरी ओर उर्दू हिन्दुओं को भी उतनी ही प्रिय थी और इसमें चकबस्त, मुंशी ज्वालाप्रसाद बर्क, दुर्गा सहाय सरूर, आनंद नारायण मुल्ला आदि पूरे अधिकार के साथ शायरी कर रहे थे। परंतु 1850 के बाद हालात तेज़ी से बदलते हैं और ये दोनों भाषाएँ दो धर्मों से जुड़ जाती हैं। कुछ दिनों बाद तो हालात इतने ख़राब हो जाते हैं कि एक-दूसरे के देवी-देवताओं पर बात करना भी मुहाल हो जाता है। आगे चलकर मुंशी प्रेमचंद जैसा ठेठ उर्दू का रचनाकार भी इसका शिकार बनता है और बहुत ही पीड़ा के साथ इन बातों का उल्लेख करता है। प्रेमचंद ने हज़रत हुसैन की ज़िन्दगी से प्रभावित होकर 'कर्बला' नामक नाटक लिखा था जो मंचन के लिए नहीं बल्कि पढ़ने के लिए लिखा गया था। इस नाटक का उद्देश्य हिन्दू समाज को हुसैन साहब से परिचित कराना था परंतु कुछ मुसलमान भाइयों को यह नागवार गुज़रा और उन्होंने इस पर कड़ी आपत्ति दर्ज की। इन सब बातों से आहत होकर प्रेमचंद ने पुस्तक के प्रकाशक दयानारायण निगम को 22-07-1924 को लिखे अपने पत्र में इसकी चर्चा की है-

"भाईजान

तसलीम। बेहतर है कि कर्बला न निकालिए। मेरा कोई नुक़सान नहीं है। न मैं मुफ्त का खिलजान सर पर लेने को तैयार हूँ। मैंने हज़रते हुसैन का हाल पढ़ा। उनसे अकीदत हुई। उनके जौके शहादत ने मफ़तूं कर लिया। उसका नतीजा यह ड्रामा था। अगर मुसलमानों को यह भी मंज़ूर नहीं है कि किसी हिन्दू की ज़बान-ओ-क़लम से उनके किसी मज़हबी पेशवा या इमाम की मद्हसराई भी हो तो मैं इसके लिए मुसिर नहीं हूँ।.....आप फ़रमाते हैं शिया हज़रात यह नहीं पसंद कर सकते कि उनके किसी मज़हबी पेशवा का ड्रामा तैयार किया जाए। शिया हज़रात अगर मज़हबी पेशवा की मसनवी पढ़ते, अफ़साने पढ़ते, मर्सिये सुनते और पढ़ते हैं तो उन्हें ड्रामा से क्यों एतराज़ हो। क्या इसलिए कि एक हिन्दू ने लिखा है?"[12]

इस बात में दो राय नहीं कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पत्रकारिता और साहित्य इतना बड़ा जनमाध्यम था कि अगर उस समय के साहित्यकारों ने, जो कि पत्रकार भी थे, दूरदृष्टि और स्वस्थ मानसिकता का परिचय दिया होता तो आज हालात कुछ और होते। उर्दू उस समय हिन्दी से अधिक विकसित थी। उर्दू पत्रकारिता भी हिन्दी से कहीं आगे थी। देशहित के लिए मोहम्मद बाकर जैसे पत्रकार अपने जान की कुर्बानी दे चुके थे और उर्दू के कई पत्रों में इतना आग होता था कि जिस व्यक्ति के पास उसकी प्रतियाँ मिल जाती थी उसे फांसी पर लटका दिया जाता था। अगर दोनों भाषाएँ एक साथ मिलकर एक-दूसरे की विशेषताओं का लाभ उठा पातीं तो देश का नक़्शा ही कुछ और होता परंतु इस सुअवसर को हमारे साहित्यकारों ने अपनी अदूरदर्शिता के कारण खो दिया और उस दौर में पूरी हिन्दी पट्टी में एक भी ऐसा व्यक्ति उभर कर नहीं आ सका जो इन अंतर्विरोधों और अंग्रेज़ों की चालों को समझकर सामुदायिक हितों से उपर उठकर निर्णय लेता। सत्ता और रोजगार की लड़ाई उस समय चरम पर थी, अंग्रेजों ने सत्ता मुस्लिम शासकों से ली थी इसलिए उनमें सामंती ठसक और खुद के खास होने की हेकड़ी ज्यादा थी। नौकरी छूटने और आर्थिक सुविधाओं के छीने जाने के कारण उनमें बेचैनी भी ज्यादा थी परंतु इसका हल हिन्दुओं से लड़ कर नहीं मिलनेवाला था, इसे समझने में मुस्लिम नेता असफल रहे। दूसरी ओर समाज सुधार की प्रक्रिया से गुजर रहे हिन्दु समाज ने जान बूझकर ऐसे प्रतीकों का इस्तेमाल किया जो साझेपन की बजाय अलगाव पैदा करनेवाले अधिक थे। ब्रह्म, प्रार्थना, आर्य आदि के नाम पर बननेवाले समाजों की बजाय हिन्दुस्तानी समाज, संयुक्त समाज, आधुनिक समाज जैसे नाम भी हो सकते थे जिसमें सभी धर्मों के लोग शामिल हो पाते परंतु ऐसा नहीं हो सका और परिणाम यह हुआ कि न केवल समाज विभाजित हुआ

बल्कि हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी नाम से सैकड़ों वर्षों से प्रयोग में आनेवाली एक ही भाषा को उर्दू और आर्यभाषा नाम देकर दो भागों में विभाजित कर दिया गया।

III. निष्कर्ष

भाषा का संबंध मजहब से नहीं इलाके से होता है, बंगाल का मुसलमान उर्दू नहीं बंगाली बोलता है और सिन्ध का हिन्दू भी हिन्दी की बजाय सिंधी का प्रयोग करता है परंतु इन दोनों भाषाओं का संबंध दो मजहब से जोड़ दिया गया। जब यह सब हो रहा था यानी 1850 से 1900 के दौरान तब असली लड़ाई रोजगार और आर्थिक सहूलियत की थी, मुगलों के समय की फारसी राजभाषा के स्थान पर अंग्रेजों ने 1837 में उर्दू को राजभाषा का दर्जा दे दिया। कानूनी रूप से फारसी भाषा को छोड़ दिया गया लेकिन लिपि और शब्दों के रूप में उसका प्रभाव बहुत रहा जो क्रमश: बढ़ता गया जिससे सहज उर्दू कठिन होती चली गयी। इस बात को समझे बगैर उस समय के नेताओं ने इसे मजहब से जोड़ा और प्रत्युत्तर में हिन्दी को तत्सम शब्दावली से जोड़ा जाने लगा। कहने के लिए यह दोनो पक्षों के चंद लोगों की ग़लती थी परंतु उसका मूल्य हम लंबे समय से चुकाते आ रहे हैं और जाने कब तक इस ग़लती का भुगतान करते रहेंगे। शायद ऐसे ही हालात के लिए मुज़फ़्फ़र रज़्मी ने लिखा होगा-

'ये जब्र भी देखा है तारीख़ की नज़रों ने
लम्हों ने ख़ता की थी सदियों ने सज़ा पायी'[13]

संदर्भ

[1] वीरभारत तलवार, "रस्साकशी", सारांश प्रकाशन, दिल्ली 2002, पृ॰ 251

[2] प्रताप नारायण मिश्र, "कवितावली" सं. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987, पृ. 27

[3] मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सं.), "नया पथ", जुलाई 2008, पृ॰ 202

[4] मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सं.), "नया पथ", जुलाई 2008, पृ॰ 206

[5] शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, "उर्दू का आरम्भिक युग", 2007, पृ॰ 37

[6] प्रताप नारायण मिश्र, "कवितावली", सं. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987, पृ॰ 29

[7] प्रताप नारायण मिश्र, "कवितावली", सं. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987, पृ॰ 174

[8] प्रताप नारायण मिश्र, "कवितावली", सं. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987, पृ॰ 53

[9] राधाचरण गोस्वामी, "व्यक्तित्व और कृतित्व", डा. केदारदत्त दत्राड़ी, प्रकाशक श्री चैतन्य गोस्वामी, राधारमण मार्ग, वृंदावन, 1995, पृ॰ 88

[10] राधाचरण गोस्वामी, "व्यक्तित्व और कृतित्व", डा. केदारदत्त दत्राड़ी, प्रकाशक श्री चैतन्य गोस्वामी, राधारमण मार्ग, वृंदावन, 1995, पृ॰ 90

[11] हेमंत शर्मा (सं.), "भारतेंदु समग्र", हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा.लि. वाराणसी, 2002, पृ॰ 209

[12] निर्मल वर्मा एवं क.कि.गोयनका (सं.), "प्रेमचंद रचना संचयन", साहित्य अकादेमी, 2010, पृ॰ 961

[13] https://rekhta.org/ghazals/is-raaz-ko-kyaa-jaanen-saahil-ke-tamaashaaii-muzaffar-razmi-ghazals?lang=hi